संविधान की 'सड़क-व्याख्या'

आदित्य निगम

संविधान का सच
कनक तिवारी
मेधा बुक्स, नयी दिल्ली, 2006,
मूल्य 350, पृ. 320.

एक ज़माना था जब भारत के संविधान पर आक्रमण मुख्य तौर पर वामपंथी हलकों की तरफ़ से होता था। वामपंथी, ख़ासकर कम्युनिस्ट यह मानते थे कि यह दस्तावेज़ बूर्ज़्वा जनतंत्र का औज़ार है। उनका विचार था कि बुनियादी तौर पर इसके ज़रिये देश में पूँजीवाद विकसित करने की मंशा पूरी की जाएगी। दरअसल, संविधान संबंधी इस नज़रिये के तहत मार्क्सवादियों ने इस दस्तावेज़ को आम तौर पर सिर्फ वर्गीय नज़रिए से पढ़ने तक ही अपने आप को महदूद रखा। समाज की गहराइयों में चल रही अन्य प्रक्रियाओं से पूरी तरह बेख़बर यह आलोचना दरअसल संविधान की सतह पर ही घूमती रही। हक़ीक़त तो यह थी कि उस ज़माने में (जो हमारी नादानी का ज़माना भी था) हम आधुनिकों को इस बात का कोई अहसास ही नहीं था कि हमारे राजनीतिक जीवन का एक और हिस्सा भी है जो इस संविधान को न सिर्फ ख़ारिज करता है बल्कि वामपंथियों से भी कहीं ज़्यादा उसे अपने अस्तित्व-मात्र के लिए ख़तरा मानता है।

हमारा संविधान दरअसल वह दस्तावेज़ है जिसमें अंततः भारतीय समाज के आधुनिकीकरण का नक्शा खींचने की कोशिश की गयी है। यह वह दस्तावेज़ है जिसमें तमाम तरह के संघर्षों के बीच से गुज़रते हुए एक नये आधुनिक समाज की नींव डालने की कोशिश की गयी है। ज़ाहिर है कि संविधानचालित आधुनिकीकरण की प्रक्रिया जिस नये निज़ाम को पुष्ट कर रही थी, उसके चलते पुराणपंथी और दकियानूसी ताक़तें अपदस्थ होने के अंदेशे का सामना कर रही थीं। उन्होंने यह समझने में देर नहीं की कि यह संविधान दरअसल उनका दुश्मन ही हो सकता है। एक लंबे इंतज़ार के बाद इन ताक़तों को संविधान के ख़िलाफ़ मोर्चा खोलने का मौक़ा तब मिला जब 1998 में भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनतांत्रिक मोर्चा सरकार का गठन हुआ।

भारतीय संविधान के मुख़्तलिफ़ पहलुओं की चर्चा करने वाली यह रचना उस दौर में लिखी गयी है जब एक तरफ़ संविधान-समीक्षा के चर्चे हो रहे थे तो दूसरी तरफ़ संघ परिवार के तूफ़ानी दस्ते कलाकारों, फ़िल्मकारों और संविधान-प्रदत्त अधिकारों पर खुले आम हमले कर रहे थे। इसके लेखक कनक तिवारी हिंदी की दुनिया की एक जानी-मानी शख़्सियत हैं जिन्होंने लंबे समय तक पत्रकारिता करने के बाद वक़ालत को अपना पेशा बनाया। उनकी यह किताब कई मायनों में अनूठी है। यह न तो संविधान का अकादमिक अध्ययन पेश करती है, न ही किसी क़ानूनदाँ की लिखी हुई कोई भारी भरकम मगर नीरस संविधान-व्याख्या हमारे सामने परोसती है। यह किताब संविधान सभा के भीतर चली बहसों तक भी अपने आप को महदूद नहीं रखती। न ही उसकी धाराओं व उपधाराओं से हमारा परिचय करा कर अपना काम निबटा लेती है।

कनक तिवारी की यह किताब, अलबत्ता, हमारे अपने वक़्त में हस्तक्षेप है— एक आवेशपूर्ण और पुरज़ोर हस्तक्षेप। इसे संविधान में निहित काव्य का रेखांकन भी कहा जा सकता है। इसकी भाषा में तो काव्यात्मकता है ही, संविधान की इसकी समझ और उसके प्रावधानों के साथ उसका रिश्ता भी काव्यात्मक है। इसका मतलब यह क़तई नहीं है कि कनक तिवारी संविधान को महज़ एक रसिक की तरह पढ़ते हैं या उसकी विसंगतियों से बेख़बर हैं। इसलिए उनका यह दावा शुरू में ही हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है : 'संविधान एक अनोखा बाजीगर होने का दंभ भरता और स्वांग भी करता है। शायद वह प्रतिबद्ध बयान की भाषा में जुगाली भी करता है। इसलिए कई बार विसंगतियों के जंजाल में पकड़ा भी जाता है (पृ. 10)।' मगर इसके बावजूद वे मानते हैं कि यह कोई साधारण दस्तावेज़ न हो कर युगांतरकारी सामाजिक तब्दीलियों का आधार और वाहक भी है। इसलिए वे कहते हैं कि वह एक तरह से आधुनिक उपनिषद् है। उसे ईश्वर से कुछ लेना-देना नहीं है क्योंकि वह मनुष्य को ईश्वर से बेहतर बनाने का बेलाग जन प्रयोजन है (पृ. 11)।

'संविधान एक अनोखा बाजीगर होने का दंभ भरता और स्वांग भी करता है। शायद वह प्रतिबद्ध बयान की भाषा में जुगाली भी करता है। इसलिए कई बार विसंगतियों के जंजाल में पकड़ा भी जाता है।' मगर इसके बावजूद वे मानते हैं कि यह कोई साधारण दस्तावेज़ न हो कर युगांतरकारी सामाजिक तब्दीलियों का आधार और वाहक भी है। इसलिए वे कहते हैं कि वह एक तरह से आधुनिक उपनिषद् है। उसे ईश्वर से कुछ लेना-देना नहीं है क्योंकि वह मनुष्य को ईश्वर से बेहतर बनाने का बेलाग जन प्रयोजन है।

इसी वजह से लेखक यह मानते हैं कि संविधान ने हर भारतीय में यह आत्मविश्वास गूँथा है कि वह राष्ट्रीय जीवन में जनतांत्रिक राजनीतिक व्यवहार के ज़रिये अपनी तक़दीर ख़ुद गढ़ सकता है। यह उसके लिए एक तरह का यूटोपिया भी है (पृ. 11)। लेकिन एक ऐसी बात भी है जो वे कहते नहीं लेकिन जो शायद उनकी बात में निहित है कि उपरोक्त स्थिति तो सम्भावना-मात्र है। इसीलिए उनका मानना है कि आज इतिहास को संविधान की सड़क-व्याख्या की ज़्यादा ज़रूरत है, क्योंकि विधायिकाओं, सचिवालयों, राजभवनों और न्यायालयों में अपनी दैनिक हाज़िरी भरते संविधान को सड़कों पर चलने का वक़्त ही नहीं मिल पाया (पृ. 12)। कनक तिवारी अपनी पुस्तक में यही कमी पूरी करने की कोशिश करते हुए वस्तुतः संविधान की एक 'सड़क-व्याख्या' हमारे सामने पेश करते हैं। यही इस किताब की ख़ासियत है। वह संविधान को एक ऐसे दस्तावेज़ के रूप में देखती है जिससे हमारा साबिका रोज़ाना हर जगह पड़ता है। वह मुख़्तलिफ़ मुकामों पर, समाज के गली-कूचों में चल रही रोज़ाना की मुठभेड़ों में संविधान की इबारत को पढ़ती है।

कनक तिवारी भारतीय संविधान के इतिहास की पृष्ठभूमि में 1857 के बाद वजूद में आये क़ानूनों के सिलसिले, ख़ासकर 1858 के भारत शासन अधिनियम (गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट) को तो

रखते ही हैं, वे अपने विश्लेषण में एक और बात पर ख़ास जोर देते हैं। तिवारी के परिप्रेक्ष्य में औपनिवेशिक शासन के साथ राष्ट्रीय आंदोलन की निरंतर जद्दोजहद में बनते-बिगड़ते वे तमाम विचार प्रमुखता से मौजूद हैं जो कभी तिलक-प्रेरित एनी बेसंट के होम रूल बिल या स्वराज्य विधेयक की शक्ल में सामने आये थे तो कभी जिन्होंने 1928 की मोतीलाल नेहरू रिपोर्ट के रूप में और अंततः संविधान सभा में चल रही बहसों को आकार दिया था। संविधान सभा की बहसों पर लेखक की पैनी नज़र लगातार रहती है और उसमें डाक्टर भीम राव आम्बेडकर जैसी हस्तियों की भूमिका को पर्याप्त अहमियत दी गयी है, बावजूद इसके कि सभा के कई महत्त्वपूर्ण सदस्यों द्वारा आम्बेडकर पर यह इलज़ाम लगाया गया था कि वे राष्ट्रीय आंदोलन से हमेशा अलग रहे। इस संदर्भ में यह बात अहमियत रखती है कि लेखक ने इस बात पर ख़ासा जोर दिया है कि आम्बेडकर के तर्क अपने आप में अनोखे और मौलिक तो थे ही (पृ. 141), वे एक ख़ास मुकाम से पेश किये जा रहे थे जहाँ से यह देख पाना संभव था कि भारत में चुना जा रहा बहुमत वस्तुतः सार्वदेशिक (कॉस्मोपॉलिटन) नहीं बल्कि साम्प्रदायिक बहुमत है। इसीलिए अल्पसंख्यकों के वांछित और वास्तविक प्रतिनिधियों का चुनाव संभव नहीं था (पृ. 141)।

आम्बेडकर के तर्क अपने आप में अनोखे और मौलिक तो थे ही, वे एक ख़ास मुकाम से पेश किये जा रहे थे जहाँ से यह देख पाना संभव था कि भारत में चुना जा रहा बहुमत वस्तुतः सार्वदेशिक (कॉस्मोपॉलिटन) नहीं बल्कि साम्प्रदायिक बहुमत है। इसीलिए अल्पसंख्यकों के वांछित और वास्तविक प्रतिनिधियों का चुनाव संभव नहीं था।

वैसे तो लेखक ने संविधान के कई पहलुओं के इर्द-गिर्द चल रहे समसामयिक विवादों के संदर्भ में संविधान के पक्ष में अपना वक्तव्य रखा है, मगर शुरू से आखिर तक जो सवाल बार-बार उभर कर सामने आता है वह दकियानूसी हिंदू-दक्षिणपंथ द्वारा उसकी मान्यताओं और प्रस्थापनाओं पर किया जा रहा हमला है। वाक्-स्वातंत्र्य या अभिव्यक्ति की आज़ादी के संदर्भ में लगातार जो दो प्रसंग उभरते हैं वे हैं संघ परिवार द्वारा मक़बूल फ़िदा हुसैन और दीपा मेहता की फ़िल्म 'वाटर' पर किये गये हमले। हुसैन पर लगे सीता और शिव-पार्वती सहित अन्य देवी-देवताओं के लगभग नग्न या अर्ध-नग्न चित्रण के आरोपों के संदर्भ में लेखक उन आलोचकों को भी आड़े हाथों लेते हैं जो किसी हद तक संघ परिवार के तर्कों को हवा देते दिखाई देते हैं। लेखक का दावा है कि ये आलोचक जान-बूझ कर भूल जाते हैं कि अजंता, कोणार्क, दिलवाड़ा और खजुराहो की कलाएँ या कुषाण काल की लज्जागौरी नामक प्रजनन देवी विकृति के उदाहरण नहीं हैं (पृ. 109)। वे साफ़ तौर से यह तर्क रखते हैं कि देवी-देवताओं को वस्त्राभूषणों में चित्रित करने की अंतिम और पृथक परम्परा उन्नीसवीं सदी में राजा रवि वर्मा ने इंग्लैंड के विक्टोरिया काल की नैतिकता के मुहावरों से प्रभावित हो कर डाली थी (पृ .109)। ज़ाहिर है कि कनक तिवारी इन सभी मुद्दों पर काफ़ी गंभीरता से सोचते रहे हैं। मगर एक जगह आकर अचानक ऐसा लगता है जैसे इसे सारे सोच-विचार के बाद वे अपने तर्क को एक जगह बाँध देना चाहते हैं। मिसाल के तौर पर नग्नता आदि को लेकर उदय प्रकाश जैसे लेखक भी जब हुसैन पर हो रहे इस तरह के हमलों की बौद्धिक स्तर पर ताईद करते नज़र आते हैं (पृ. 111) तो कनक तिवारी उस प्रवृत्ति से टकराने या उसका प्रतिवाद करने के बजाय इतना भर कह पाते हैं कि जब हमारी पीढ़ी के एक बहुत महत्त्वपूर्ण लेखक उदय प्रकाश ऐसे सवाल उठाते हैं तो उन्हें सरसरी तौर पर ख़ारिज नहीं किया जा सकता (पृ. 111)।

इस संदर्भ में यह बात कुछ चौंका देने वाली लगती है कि लेखक कुछ मामलों में संघ परिवार के अतिवाद से तो किनारा कर लेते हैं मगर उसके कई तर्कों को बुनियादी तौर पर कबूल भी कर लेते हैं। मसलन, वे कहते हैं : ईसाइयत और ईसाई मिशनरियों के ख़िलाफ़ संघ-परिवार की घोषित नफ़रत

पर टिप्पणी किये बिना यह कहना नैतिक साहस का परिचायक होना चाहिए कि किसी अवैध कारण या प्रलोभन से किया गया धर्म-परिवर्तन घृणित और निंदनीय कृत्य है (पृ. 62)। यह बात दो कारणों से चौंका देने वाली है : पहला, यह तर्क देने वाले आज तक यह नहीं बता पाए हैं कि कौन से अवैध कारण या प्रलोभन हैं जो धर्मांतरण के लिए इस्तेमाल किये जा रहे हैं। अगर बात नैतिक साहस की है तो लेखक पर यह ज़िम्मेदारी आ जाती है कि वे दिखाएँ कौन से अवैध कारण इस्तेमाल किये जा रहे हैं। जहाँ तक मेरी जानकारी है, हिंदू समाज में अछूतों की ज़िंदगी बसर कर रहे लोगों को या बदहाली में जी रहे आदिवासियों के लिए जब इन मिशनरियों के ज़रिये शिक्षा और आम तौर पर जीवन की बेहतरी के रास्ते खुलने लगते हैं तभी यह प्रलोभन का बवाल खड़ा किया जाता है। हिंदू समाज और उसके संघी रखवाले प्रकारांतर से यही कह रहे होते हैं कि जिसके लिए परम्परागत ढाँचे में जो जगह तय की गयी है, दलितों और आदिवासियों को उससे बाहर निकलने की गुस्ताख़ी करने के बारे में सोचना भी नहीं चाहिए। दूसरी अहम बात यह है कि यह कोई किसी के लिए तय नहीं कर सकता है कि वह किस मत को अपनाता है। आस्था की आज़ादी हमारी बुनियादी आज़ादी है। रोज़ाना नेताओं की ख़रीद-फ़रोख़्त होती है, वे अपना मत बदलते हैं। सरकारी महकमों में काम करने वाले अफ़सरान निजी या बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के ख़ास प्रलोभन (ज़्यादा तनख़्वाह आदि) के प्रभाव में जन-सेवा से पल्ला झाड़ लेते हैं। प्रलोभन और अवैध कारणों से होने वाला यह मत परिवर्तन हम रोज़ाना देखते हैं मगर इस पर कभी कोई सवाल नहीं उठता। उठता है तो सिर्फ़ ग़रीब लोगों द्वारा अपने हालात की बेहतरी के लिए किये गये मत परिवर्तन का। लिहाज़ा, जो सवाल उठाना चाहिए और जो किसी भी समाजविज्ञानपरक अकादमीय चर्चा के लिए ज़रूरी है कि एक ख़ास किस्म के मतांतरण को ही हम अवैध ठहराना क्यों पसंद करते हैं?

> प्रलोभन और अवैध कारणों से होने वाला यह मत परिवर्तन हम रोज़ाना देखते हैं मगर इस पर कभी कोई सवाल नहीं उठता। उठता है तो सिर्फ़ ग़रीब लोगों द्वारा अपने हालात की बेहतरी के लिए किये गये मत परिवर्तन का। ... किसी भी समाजविज्ञानपरक अकादमीय चर्चा के लिए ज़रूरी है कि एक ख़ास किस्म के मतांतरण को ही हम अवैध ठहराना क्यों पसंद करते हैं?

यहीं पर इस पुस्तक के बारे में एक अवधारणात्मक सवाल और उठाना मौज़ूँ होगा। लगातार इस किताब में धर्म-निरपेक्षता और पंथ-निरपेक्षता को समानार्थी शब्दों की तरह इस्तेमाल में लाया गया है। एक जगह तो लेखक चलते हुए अंदाज़ में धर्म-निरपेक्ष शब्द का इस्तेमाल कर के कोष्ठकों में कहते हैं बार-बार पंथ-निरपेक्ष क्यों कहा जाये (पृ. 62)? यह एक अद्भुत क़िस्म का घालमेल है। ख़ास तौर पर इसलिए कि पंथ-निरपेक्ष संघ परिवार का गढ़ा हुआ एक ऐसा पद है जिसे वह धर्म-निरपेक्षता के खिलाफ खड़ा करने की कोशिश करता है। यह कोशिश सीधे-सीधे नहीं की जाती है बल्कि एक क़िस्म से चोरी-छिपे इसे चलन में लाने की कोशिश चलती रहती है। आशय यह कि हिंदू धर्म के भीतर मौजूद अलग-अलग पंथों के बीच एक समानता है और होनी चाहिए और इसे पहचानना चाहिए। इसके विपरीत धर्म-निरपेक्षता का सिद्धांत राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान गढ़ा गया वह ख़याल है जो सब धर्मों या मजहबों के बीच बराबरी और समान बरताव की बात करता है। यह बात इसलिए रेखांकित करने की ज़रुरत पड़ी है कि कनक तिवारी की किताब अपने मूल आशय में हिंदुत्व की राजनीति की खुली आलोचना करती है और कुल मिलाकर आज के राजनीतिक विमर्श में एक महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप है। अपने तर्कों और भाषा की रचनात्मकता के अलावा इस पुस्तक में कई ऐसी जानकारियाँ भी मिलेंगी जिनसे शोधार्थी भी फायदा उठा सकते हैं।